३. अहवा हेउ चउव्विहे पण्णते तं जहाँ पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्म -स्थानांग ३३८
४. मति: स्मृति: संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम-तत्वार्थ १/१
५. तत्त्वार्थ भाष्य १/१५
६. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग ४ पृ० १९०-१९१
७. मीमांसा कोष, पृ० १६३८
८. तत्रोहो नाम प्रकृतावन्यथा दृषष्य विकृतावन्यथा भाव:।
१०. न्यायसूत्र पर वात्सयान भाष्य १/१/१, पृ० ५३
११. न्यायसूत्र पर विश्वनाथ वृत्ति १/१/४०
१२. न्यायसूत्र पर वात्सायन भाष्य, पृ० ३२०-२१

मूल्य दर्शन और पुरुषार्थ चतुष्टय

मूल्य-दर्शन का उद्भव एवं विकास

एक नवीन दार्शनिक प्रस्थान के रूप में 'मूल्य दर्शन' का विकास लौत्से, ब्रेन्टानो, एरनफेल्स, माइनांग, हार्टमन, अरबन, अवरेट, मैक्स शिलर आदि विचारकों की रचनाओं के माध्यम से १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में प्रारम्भ होता है, तथापि श्रेय एवं प्रेय के विवेक के रूप में परम सुख की खोज के रूप में एवं पुरुषार्थ की विवेचना के रूप में मूल्य-बोध और मूल्य-मीमांसा के मूलभूत प्रश्नों की समीक्षा एवं तत्सम्बन्धी चिन्तन के बीज पूर्व एवं पश्चिम के प्राचीन दार्शनिक चिन्तन में भी उपलब्ध होते हैं। वस्तुत: मूल्य-बोध मानवीय प्रज्ञा के विकास के साथ ही प्रारम्भ होता है। अत: वह उतना ही प्राचीन है, जितना मानवीय प्रज्ञा का विकास। मूल्य-विषयक विचार-विमर्श की यह धारा जहाँ भारत में 'श्रेय' एवं 'मोक्ष' को परम मूल्य मान कर आध्यात्मिकता की दिशा में गतिशील होती रही, वहीं पश्चिम में 'शुभ' एवं 'कल्याण' पर अधिक बल देकर ऐहिक, सामाजिक एवं बुद्धिवादी बनी रही। फिर भी अर्थ, काम और धर्म के त्रिवर्ग को स्वीकार कर न तो भारतीय विचारकों ने ऐहिक और सामाजिक जीवन के मूल्यों की उपेक्षा की है और न सत्य, शिव एवं सुन्दर के परम मूल्यों को स्वीकार कर पश्चिम के विचारकों ने मूल्यों की आध्यात्मिक अवधारणा की उपेक्षा की है।

मूल्य का स्वरूप

मूल्य क्या है? इस प्रश्न के अभी तक अनेक उत्तर दिये गये हैं- सुखवादी विचारपरम्परा के अनुसार, जो मनुष्य की किसी इच्छा की तृप्ति करता है अथवा जो सुखकर, रुचिकर एवं प्रिय है, वही मूल्य है। विकासवादियों के अनुसार जो जीवनरक्षक एवं संवर्द्धक है, वही मूल्य है। बुद्धिवादी कहते हैं कि मूल्य वह है जिसे मानवीय प्रज्ञा निरपेक्ष रूप से वरेण्य मानती है और जो एक विवेकवान् प्राणी के रूप में मनुष्य-जीवन का स्वत: साध्य है। अन्तत: पूर्णतावादी आत्मोपलब्धि को ही मूल्य मानते हैं और मूल्य के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वस्तुत: मूल्य के सन्दर्भ में ये सभी दृष्टिकोण किसी सीमा तक ऐकान्तिकता एवं अवान्तर-कल्पना के दोष (Naturalistic Fallacy) से ग्रसित हैं। वास्तव में मूल्य एक अनैकान्तिक, व्यापक एवं बहु-आयामी प्रत्यय है, वह एक व्यवस्था है, एक संस्थान है, उसमें भौतिक और आध्यात्मिक, श्रेय और प्रेय, वांछित और वांछनीय, उच्च और निम्न, वासना और विवेक सभी समन्वित हैं। वे यथार्थ और आदर्श की खाई के लिए एक पुल का काम करते हैं। अत: उन्हें किसी ऐकान्तिक एवं निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर परिभाषित नहीं किया जा सकता। मूल्य एक नहीं, अनेक हैं और मूल्य-दृष्टियाँ भी अनेक हैं। अत: प्रत्येक मूल्य किसी दृष्टि विशेष के प्रकाश में ही आलोकित होता है। वस्तुत: मूल्यों की और मूल्य-दृष्टियों की इस अनेकविधता और बहु-आयामी प्रकृति को समझे बिना मूल्यों का सम्यक् मूल्यांकन भी सम्भव नहीं हो सकता है।

मूल्यबोध की सापेक्षता

मूल्य-बोध में मानवीय चेतना के विविध पहलू एक-दूसरे से संयोजित होते हैं। मूल्यांकन करने वाली चेतना भी बहु-आयामी है, उसमें ज्ञान, भाव और संकल्प तीनों ही उपस्थित रहते हैं। विद्वानों ने इस बात को सम्यक् प्रकार से न समझ कर ही मूल्यों के स्वरूप को समझने में भूल की है। यहाँ हमें दो बातों को ठीक प्रकार से समझ लेना होगा-एक तो यह कि सभी मूल्यों का मूल्यांकन चेतना के किसी एक ही पक्ष के द्वारा सम्भव नहीं है, दूसरे यह कि मानवीय चेतना के सभी पक्ष एक-दूसरे से पूर्णतया निरपेक्ष होकर कार्य नहीं करते हैं। यदि हम इन बातों की उपेक्षा करेंगे तो हमारा मूल्य-बोध अपूर्ण एवं एकांगी होगा। फिर भी मूल्य-दर्शन के इतिहास में ऐसी उपेक्षा की जाती रही है। एरेनफेल्स ने मूल्य को इच्छा (डिज़ायर) का विषय माना तो माइनांग ने उसे भावना (फीलिंग) का विषय बताया। पैरी ने उसे रुचि (इंट्रेस्ट) का विषय मानकर मूल्य-बोध में इच्छा और भावना का संयोग माना है। सारले ने उसे अनुमोदन (एप्रीसियेशन) का विषय मान कर उसमें ज्ञान और भावना का संयोग माना है। फिर भी ये सभी विचारक किसी सीमा तक एकांगिकता के दोष से नहीं बच पाये हैं।

मूल्य-बोध न तो कुर्सी और मेज़ के ज्ञान के समान तटस्थ ज्ञान है और न प्रेयसी के प्रति प्रेम की तरह मात्र भावावेश ही। वह मात्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इच्छा या रुचि का निर्माण भी नहीं है। वह न तो निरा तर्क है और न निरी भावना या संवेदना। मूल्यात्मक चेतना में इष्टत्व, सुखदता अथवा इच्छा-तृप्ति का विचार अवश्य उपस्थित रहता है, किन्तु यह इच्छा-तृप्ति का विचार या इष्टत्व का बोध विवेक-रहित न होकर विवेक-युक्त होता है। इच्छा स्वयं में कोई मूल्य नहीं, उसकी अथवा उसके विषय की मूल्यात्मकता का निर्णय स्वयं इच्छा नहीं, विवेक करता है, भूख स्वयं मूल्य नहीं है, रोटी मूल्यवान है, किन्तु रोटी की मूल्यात्मकता भी स्वयं रोटी पर नहीं अपितु उसका मूल्यांकन करने वाली चेतना पर तथा क्षुधा की वेदना पर निर्भर है। किसी वस्तु के वांछनीय, ऐषणीय या मूल्यवान् होने का अर्थ है-निष्पक्ष विवेक की आँखों में वांछनीय होना। मात्र इच्छा या मात्र वासना अपने विषय को वांछनीय या एषणीय नहीं बना देती है, यदि उसमें विवेक का योगदान न हो। मूल्य का जन्म वासना और विवेक तथा यथार्थ और आदर्श के सम्मिलन में ही होता है। वासना मूल्य के लिए कच्ची सामग्री है तो विवेक उसका रूपाकार। उसमें भोग और त्याग, तृप्ति और निवृत्ति एक साथ उपस्थित रहते हैं। इस सन्दर्भ में श्री संगमलाल जी पांडेय का मूल्यों की त्यागरूपता का सिद्धान्त भी एकांगी ही लगता है। उनका यह कहना कि "निवृत्ति ही मूल्यसार है" ठीक नहीं है। मूल्य में निवृत्ति और संतुष्टि (प्रवृति) दोनों ही अपेक्षित हैं। उन्होंने अपने लेख में निवृत्ति शब्द का दो भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है, जो एक भ्रान्ति को जन्म देता है। क्षुधा की निवृत्ति या कामवेग की निवृत्ति में त्याग नहीं भोग है पुनः इस निवृत्ति को भी सन्तुष्टि का ही दूसरा रूप कहा जा सकता है। (देखिए-दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई १९७६)।

पुनश्च, यह मानना भी उचित नहीं है कि मूल्य-बोध में विवेक या बुद्धि ही एकमात्र निर्धारक तत्त्व है। मूल्य-बोध की प्रक्रिया में निश्चित ही विवेक-बुद्धि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु यही एकमात्र निर्धारक तत्त्व नहीं है। मूल्य-बोध न तो मात्र जैव-प्रेरणा या इच्छा से उत्पन्न होता है और न मात्र विवेक-बुद्धि से। मूल्य-बोध में भावात्मक पक्ष का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, किन्तु केवल भावोन्मेष भी मूल्य-बोध नहीं दे पाता है। डॉ. गोविन्दचन्द्रजी पांडे के शब्दों में "यह (मूल्य-बोध) केवलभाव-सघनता या इच्छोद्वेलन न होकर व्यक्त या अव्यक्त विवेक से अलौकिक है, उसमें अनुभूति की जीवन्त सघनता और रागात्मकता (लगाव) के साथ ज्ञान की स्वच्छता और तटस्थता (अलगाव) उपस्थित होती है (मूल्य-मीमांसा)। इस प्रकार मूल्य-चेतना में ज्ञान, भाव और इच्छा तीनों ही उपस्थित होते हैं। फिर भी यह विचारणीय है कि क्या सभी प्रकार के मूल्यांकन में ये सभी पक्ष समान रूप से बलशाली रहते हैं? यद्यपि प्रत्येक मूल्य-बोध एवं मूल्यांकन में ज्ञान, भाव और इच्छा के तत्त्व उपस्थित रहते हैं, फिर भी विविध प्रकार के मूल्यों का मूल्यांकन या मूल्य-बोध करते समय इनके बलाबल में तरतमता अवश्य रहती है। उदाहरणार्थ-सौंदर्य-बोध में भाव या अनुभूत्यात्मक पक्षका जितना प्राधान्य होता है उतना अन्य पक्षों का नहीं। आर्थिक एवं जैविक मूल्यों के बोध में इच्छा की जितनी प्रधानता होती है उतनी विवेक या भाव की नहीं। यह बात तो मूल्य विशेष की प्रकृति पर निर्भर है कि उसका मूल्य-बोध करते समय कौन सा पक्ष प्रधान होगा। इतना ही नहीं, मूल्य-बोध में देश-काल और परिवेश के तत्त्व भी चेतना पर अपना प्रभाव डालते हैं और हमारे मूल्यांकन को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार मूल्य-बोध एक सहज प्रक्रिया न होकर एक जटिल प्रक्रिया है और उसकी इस जटिलता में ही उसकी सापेक्षता निहित है। जो आचार किसी देश, काल परिस्थिति विशेष में शुभ माना जाता है वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति में अशुभ माना जा सकता है। सौंदर्य-बोध, रसानुभूति आदि के मानदण्ड भी देश, काल और व्यक्ति के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। आज सामान्यजन फिल्मी गानों में जो रस-बोध पाता है वह उसे शास्त्रीय संगीत में नहीं मिलता है। इसी प्रकार रुचि-भेद भी हमारे मूल्य-बोध को एवं मूल्यांकन को प्रभावित करता है। वस्तुतः मूल्य-बोध की अवस्था चेतना की निष्क्रिय अवस्था नहीं है। जो विचारक यह मानते हैं कि मूल्य-बोध एक प्रकार का सहज ज्ञान है, वे उसके स्वरूप से ही अनभिज्ञ हैं। मात्र यही नहीं, रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति में और तत्सम्बन्धी मूल्य-बोध में भी अन्तर है। रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति में मात्र भावपरक पक्ष की उपस्थिति पर्याप्त होती है, उसमें विवेक का कोई तत्त्व उपस्थित हो ही यह आवश्यक नहीं है, किन्तु तत्सम्बन्धी मूल्य-बोध में किसी न किसी विवेक का तत्त्व अवश्य ही उपस्थित रहता है। मूल्य-बोध और मूल्य-लाभ सक्रिय एवं सृजनात्मक चेतना के कार्य हैं। मूल्य-बोध और मूल्य-लाभ में मानवीय चेतना के विविध पक्षों का विविध आयामों में एक प्रकार का द्वन्द्व चलता है। वासना और विवेक अथवा भावना या विवेक के अन्तर्द्वन्द्व में ही मनुष्य मूल्य-विश्व का आभास पाता है यद्यपि मूल्यांकन करने वाली चेतना मूल्य-बोध में इस द्वन्द्व का अतिक्रमण करती है। वस्तुतः इस द्वन्द्व में जो पहलू विजयी होता है उसी के आधार पर व्यक्ति की मूल्य-दृष्टि बनती है और जैसी मूल्य-दृष्टि बनती है वैसा ही मूल्यांकन या मूल्य-बोध होता है। जिनमें जिजीविषा प्रधान हो, जिनकी चेतना को जैव प्रेरणाएँ ही अनुशासित करती हों, उन्हें रोटी अर्थात् जीवन का संवर्द्धन ही एकमात्र परम मूल्य लग सकता है, किन्तु अनेक परिस्थितियों में विवेक के प्रबुद्ध होने पर कुछ व्यक्तियों को चारित्रिक एवं अन्य उच्च मूल्यों की उपलब्धि हेतु जीवन का बलिदान ही एकमात्र परम मूल्य लग सकता है। किसी के लिए वासनात्मक एवं जैविक मूल्य ही परम मूल्य हो सकते हों और जीवन सर्वतोभावेन रक्षणीय माना जा सकता हो, किन्तु किसी के लिए चारित्रिक या नैतिक मूल्य इतने उच्च हो सकते हैं कि वह उनकी रक्षा के लिए जीवन का बलिदान कर दे। इस प्रकार मूल्य-बोध की विभिन्न दृष्टियों का निर्माण चेतना के विविध पहलुओं में से किसी एक की प्रधानता के कारण अथवा देश-काल तथा परिस्थितिजन्य तत्त्वों के कारण होता है और उसके परिणामस्वरूप मूल्य-बोध तथा मूल्यांकन भी प्रभावित होता है। अतः हम कह सकते हैं कि मूल्य-बोध भी किसी सीमा तक दृष्टि-सापेक्ष है, किन्तु इसके साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं दृष्टि भी मूल्य-बोध से प्रभावित होती है। इस प्रकार मूल्य-बोध और मनुष्य की जीवन-दृष्टि परस्पर सापेक्ष हैं। अरबन का यह कथन कि मूल्यांकन मूल्य को निर्धारित नहीं अपितु मूल्य ही अपनी पूर्ववर्ती वस्तुनिष्ठता के द्वारा मूल्यांकन को प्रभावित करते हैं, आंशिक सत्य ही कहा जा सकता है। मूल्य न तो पूर्णतया वस्तुतन्त्र है और न आत्मतन्त्र ही। हमारा मूल्य-बोध आत्म और वस्तु दोनों से प्रभावित होता है। सौंदर्य-बोध में, काव्य के रस-बोध में आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के इन दोनों पक्षों को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। सौंदर्य-बोध अथवा काव्य की रसानुभूति न पूरी तरह कृति-सापेक्ष है, न पूरी तरह आत्म-सापेक्ष। इस प्रकार हमें यह मानना होगा कि मूल्यांकन करने वाली चेतना और मूल्य दोनों ही एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। मूल्यांकन की प्रक्रिया में दोनों परस्पराश्रित हैं। एक ओर मूल्य अपनी मूल्यवत्ता के लिए चेतन सत्ता की अपेक्षा करते हैं दूसरी ओर चेतन सत्ता मूल्य-बोध के लिए किसी वस्तु, कृति या घटना की अपेक्षा करती है। मूल्य न तो मात्र वस्तुओं से प्रकट होते हैं और न मात्र आत्मा से। अत: मूल्य-बोध की प्रक्रिया को समझाने में विषयीतंत्रता या वस्तुतंत्रता ऐकांतिक धारणाएँ है। मूल्य का प्रकटीकरण चेतना और वस्तु (यहाँ वस्तु में कृति या घटना अन्तर्भूत हैं) दोनों के संयोग में होता है। पेरी सीमा तक सत्य के निकट हैं जब वे यह कहते हैं कि मूल्य वस्तु और विचार के ऐच्छिक सम्बन्ध में प्रकट होते हैं।

मूल्यों की तरतमता का प्रश्न

मूल्य-बोध के साथ जुड़ा हुआ दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, मूल्यों के तारतम्य का बोध। हमें केवल मूल्य-बोध नहीं होता अपितु मूल्यों के उच्चावच क्रम का या उनकी तरतमता का भी बोध होता है। वस्तुत: हमें मूल्य का नहीं अपितु मूल्यों का, उनकी तरतमता-सहित बोध होता है। हम किसी भी मूल्य-विशेष का बोध मूल्य-विश्व में ही करते हैं, अलग एकाकी रूप में नही। अत: किसी मूल्य के बोध के समय ही उसकी तरतमता का भी बोध हो जाता है। किन्तु यह तरतमता का बोध भी दृष्टि-निरपेक्ष नहीं होकर दृष्टि-सापेक्ष होता है। हम कुछ मूल्यों को उच्च मूल्य और कुछ मूल्यों को निम्न मूल्य कहते हैं किन्तु मूल्यों की इस उच्चावचता या तरतमता का निर्धारण कौन करता है? क्या मूल्यों की अपनी कोई ऐसी व्यवस्था है जिसमें निरपेक्ष रूप से उसकी तरमता का बोध हो जाता है? यदि मूल्यों की तरतमता की कोई ऐसी वस्तुनिष्ठ व्यवस्था होती है तो फिर तरतमता सम्बन्धी हमारे विचारों में मतभेद नहीं होता। किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। अत: स्पष्ट है कि मूल्यों की तरतमता का बोध भी दृष्टि-सापेक्ष है।

भारतीय परम्परा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की मूल्य-दृष्टियों की विविधता मूल्य-बोध की सापेक्षता को ही सूचित करती है। पश्चिम में भी सत्य, शिव एवं सुन्दर के सम्बन्ध में इसी प्रकार का दृष्टिभेद परिलक्षित होता है। कुछ लोग सत्य को परम मूल्य मानते हैं तो दूसरे कुछ लोग शिव (कल्याण) को अथवा सुन्दर को परम मूल्य मानते हैं। भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की श्रेष्ठता अथवा कनिष्ठता के सम्बन्ध में भी जो मतभेद हैं वे सभी दृष्टि-सापेक्ष ही हैं। वस्तुत: जो किसी एक दृष्टि से सर्वोच्च मूल्य हो सकता है वही दूसरी दृष्टि से निम्न मूल्य भी सिद्ध हो सकता है। बलवत्ता या तीव्रता की दृष्टि से जहाँ जैविक मूल्य सर्वोच्च ठहरते हैं, वहीं विवेक एवं संयम की दृष्टि से आध्यात्मिक एवं अतिजैविक मूल्य उच्चतर माने जा सकते हैं। पुन:, किसी एक ही दृष्टि के आधार पर मूल्यों की तरतमता का निर्धारण भी सम्भव नहीं है, क्योंकि मूल्य और मूल्य-दृष्टियाँ बहु-आयामी हैं, वे एक-रेखीय न होकर बहुरेखीय हैं। एक मूल्य पर एक दृष्टि से विचार किया जा सकता है। इस प्रकार मूल्य-बोध और उनकी तरतमता का बोध दृष्टि-सापेक्ष है और वह दृष्टि-चेतना के विविध पहलुओं के बलाबल पर निर्भर करता है। पुनश्च, चेतना के वासनात्मक और विवेकात्मक पहलुओं में कब, कौन, कितना बलशाली होगा यह बात भी आंशिक रूप से देश-काल और परस्थितियों पर निर्भर होगी और आंशिक रूप से व्यक्ति के संस्कार और मूल्य-दृष्टि पर भी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मूल्य-बोध मूल्य-दृष्टि पर निर्भर करता है और मूल्य-दृष्टि स्वयं मूल्य-बोध पर। वे अन्योन्याश्रित हैं, बीज-वृक्ष न्याय के समान उनमें से किसी की पूर्वतया-प्राथमिकता का निश्चय कर पाना कठिन है।

अरबन का आध्यात्मिक मूल्यवाद और भारतीय मूल्य दर्शन

अरबन के अनुसार मूल्यांकन एक निर्णयात्मक प्रक्रिया है, जिसमें सत् के प्रति प्राथमिक विश्वासों के ज्ञान का तत्त्व भी होता है। इसके साथ ही उसमें भावात्मक तथा संकल्पात्मक अनुक्रिया भी है। मूल्यांकन संकल्पात्मक प्रक्रिया का भावपक्ष है। अरबन मूल्यांकन की प्रक्रिया में ज्ञानपक्ष के साथ-साथ भावना एवं संकल्प की उपस्थिति भी आवश्यक मानते हैं। मूल्यांकन में निरन्तरता का तत्त्व उनकी प्रामाणिकता का आधार है। जितनी अधिक निरन्तरता होगी उतना ही अधिक वह प्रामाणिक होगा। मूल्यांकन और मूल्य में अन्तर स्पष्ट करते हुए अरबन कहते हैं कि मूल्यांकन मूल्य को निर्धारित नही करता, वरन् मूल्य ही अपनी पूर्ववर्ती वस्तुनिष्ठता के द्वारा मूल्यांकन को निर्धारित करते हैं।

अरबन के अनुसार मूल्य न कोई गुण है, न वस्तु और न सम्बन्ध। वस्तुत: मूल्य अपरिभाष्य है तथापि उसकी प्रकृति को उसके सत्ता से सम्बन्ध के आधार पर जाना जा सकता है। वह सत्ता और असत्ता के मध्य स्थित है। अरबन मिनांग के समान उसे वस्तुनिष्ठ कहता है, किन्तु उसका अर्थ 'होना चाहिए' (Ought to be) में है। मूल्य सदैव अस्तित्व का दावा करते हैं, उनका सत् होना इसी पर निर्भर है कि सत् को ही मूल्य के उस रूप में विवेचित किया जाये, जिसमें सत्ता और अस्तित्व भी हो।

मूल्य की वस्तुनिष्ठता के दो आधार हैं-प्रथम यह कि प्रत्येक वस्तु विषय मूल्य की विधा में आता है और दूसरे प्रत्येक मूल्य उच्च और निम्न के क्रम से स्थित है। अरबन के अनुसार मूल्यों की अनुभूति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनकी किसी क्रम में अनुभूति है, यह बिना मूल्यों में पूर्वापरता माने, केवल मनोवैज्ञानिक अवस्था पर निर्भर नहीं हो सकती। इस प्रकार मूल्य एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।

मूल्य की सामान्य चर्चा के बाद अरबन नैतिक मूल्य पर आते हैं। अरबन के अनुसार नैतिक दृष्टि से मूल्यवान होने का अर्थ है मनुष्य के लिए मूल्यवान होना। नैतिक शुभत्व मानवीय मूल्यांकन के सिद्धान्त पर निर्भर है। मानवीय मूल्यांकन के सिद्धान्त को कुछ लोगों ने आकारिक नियमों की व्यवस्था के रूप में और कुछ लोगों ने सुखया की गणना के रूप में देखा था, लेकिन अरबन के अनुसार मानवीय मूल्यांकन के सिद्धान्त का तीसरा एकमात्र सम्भावित विकल्प है 'आत्मसाक्षात्कार'। आत्मसाक्षात्कार के सिद्धान्त के समर्थन में अरबन अरस्तू की तरह ही तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि वस्तुओं का शुभत्व उनकी कार्यकुशलता में है, अंगों का शुभत्व जीवन जीने में उनके योगदान में है और जीवन का शुभत्व आत्मपूर्णता में है। मनुष्य 'आत्म' (Self) है और यदि यह सत्य है तो फिर मानव का वास्तविक शुभ उसकी आत्मपरिपूर्णता में ही निहित है। अरबन की यह दृष्टि भारतीय परम्परा के अति निकट है जो यह स्वीकार करती है कि आत्मपूर्णता ही नैतिक जीवन का लक्ष्य है।

अरबन के अनुसार 'आत्म' सामाजिक जीवन से अलग कोई व्यक्ति नहीं है, वरन् वह तो सामाजिक मर्यादाओं में बँधा हुआ है और समाज को अपने मूल्यांकन से और अपने को सामाजिक मूल्यांकन से प्रभावित पाता है।

अरबन के अनुसार स्वहित और परहित की समस्या का सही समाधान न तो परिष्कारित स्वहितवाद में है और न बौद्धिक परहितवाद में है, वरन् सामान्य शुभ की उपलब्धि के रूप में स्वहित और परहित से ऊपर उठ जाने में है। यह दृष्टिकोण भारतीय परम्परा में भी ठीक इसी रूप में स्वीकृत रहा है। जैन परम्परा भी स्वहित और लोकहित की सीमाओं से ऊपर उठ जाना ही नैतिक जीवन का लक्ष्य मानती है।

अरबन इस समस्या का समाधान भी प्रस्तुत करते हैं कि मूल्यांकन करने वाली मानवीय चेतना के द्वारा यह कैसे जाना जाय कि कौन से मूल्य उच्च कोटि के हैं और कौन से मूल्य निम्न कोटि के? अरबन इसके तीन सिद्धान्त बताते हैं-

पहला सिद्धान्त यह है कि साध्यात्मक या आन्तरिक मूल्य साधनात्मक या बाह्य मूल्यों की अपेक्षा उच्च हैं। दूसरा सिद्धान्त यह है कि स्थायी मूल्य अस्थायी मूल्यों की अपेक्षा उच्च हैं और तीसरा सिद्धान्त यह है कि उत्पादक मूल्य अनुत्पादक मूल्यों की अपेक्षा उच्च हैं।

अरबन इन्हें व्यावहारिक विवेक के सिद्धान्त या मूल्य के नियम कहते हैं। ये हमें बताते हैं कि जैविक मूल्य जिनमें आर्थिक, शारीरिक और मनोरंजनात्मक मूल्य समाहित हैं; की अपेक्षा सामाजिक मूल्य जिनमें साहचर्य और चारित्र के मूल्य भी समाहित हैं, उच्च प्रकार के हैं। उसी प्रकार सामाजिक मूल्यों की अपेक्षा आध्यात्मिक मूल्य, जिनमें बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक और धार्मिक मूल्य भी समाहित हैं, उच्च प्रकार के हैं।

अरबन की दृष्टि में मूल्यों की इसी क्रम-व्यवस्था के आधार पर आत्मसाक्षात्कार के स्तर हैं। आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रस्थित आत्मा की पूर्णता उस स्तर पर है, जिसे मूल्यांकन करने वाली चेतना सर्वोच्च मूल्य समझती है और सर्वोच्च मूल्य वह है जो अनुभूति की पूर्णता में तथा जीवन के सम्यक् संचालन में सबसे अधिक योगदान करता है। जैन दृष्टि में इसे हम वीतरागता और सर्वज्ञता की अवस्था कह सकते हैं।

एक अन्य आध्यात्मिक मूल्यवादी विचारक डब्ल्यू० आर० सार्ली जैन परम्परा के निकट आकर यह कहते हैं कि नैतिक पूर्णता ईश्वर के समान बनने में है। किन्तु कुछ भारतीय परम्परायें तो इससे भी आगे बढ़कर यह कहती हैं कि नैतिक पूर्णता परमात्मा होने में है। आत्मा से परमात्मा, जीव से जिन, साधक से सिद्ध, अपूर्ण से पूर्ण की उपलब्धि में ही नैतिक जीवन की सार्थकता है।

अरबन की मूल्यों की क्रम-व्यवस्था भी भारतीय परम्परा के दृष्टिकोण के निकट ही है। जैन एवं अन्य भारतीय दर्शनों में भी अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों में यही क्रम स्वीकार किया गया है। अरबन के आर्थिक मूल्य अर्थपुरुषार्थ के, शारीरिक एवं मनोरंजनात्मक मूल्य कामपुरुषार्थ के, साहचर्यात्मक और चारित्रिक मूल्य धर्मपुरुषार्थ के तथा सौन्दर्यात्मक, ज्ञानात्मक और धार्मिक मूल्य मोक्षपुरुषार्थ के तुल्य हैं।

भारतीय दर्शनों में जीवन के चार मूल्य

जिस प्रकार पाश्चात्य आचारदर्शन में मूल्यवाद का सिद्धान्त लोकमान्य है उसी प्रकार भारतीय नैतिक चिन्तन में पुरुषार्थ-सिद्धान्त, जो कि जीवन-मूल्यों का ही सिद्धान्त है, पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। भारतीय विचारकों ने जीवन के चार पुरुषार्थ या मूल्य माने हैं-

१. अर्थ (आर्थिक मूल्य)-जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आवश्कता होती है, अत: दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले इन साधनों को उपलब्ध करना ही अर्थपुरुषार्थ है।

२. काम (मनोदैहिक मूल्य)-जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाना अर्थपुरुषार्थ और उन साधनों का उपभोग करना कामपुरुषार्थ है। दूसरे शब्दों में विविध इंद्रियों के विषयों का भोग कामपुरुषार्थ है।

३. धर्म (नैतिक मूल्य)-जिन नियमों के द्वारा सामाजिक जीवन या लोकव्यवहार सुचारु रूप से चले, स्व-पर कल्याण हो और जो व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में ले जाये, वह धर्मपुरुषार्थ है।

४. मोक्ष (आध्यात्मिक मूल्य)-आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण प्रकटीकरण मोक्ष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अ) जैन दृष्टि में पुरुषार्थचतुष्टय

सामान्यतया यह समझा जाता है निवृत्तिप्रधान जैन दर्शन में मोक्ष ही एकमात्र पुरुषार्थ है। धर्मपुरुषार्थ की स्वीकृति उसके मोक्षानुकूल होने में ही है। अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों का उसमें कोई स्थान नहीं है। जैन-विचारकों के अनुसार अर्थ अनर्थ का मूल है,[२] सभी काम दु:ख उत्पन्न करने वाले हैं।[३] लेकिन यह विचार एकांगी ही माना जायेगा। कोई भी जिनवचन एकान्त या निरपेक्ष नहीं है। जैन विचारकों ने सदैव ही व्यक्ति को स्वपुरुषार्थ से धनोपार्जन की प्रेरणा दी है। वे यह मानते हैं कि व्यक्ति को केवल अपने पुरुषार्थ से उपार्जित सम्पत्ति के भोग करने का अधिकार है। दूसरों के द्वारा उपार्जित सम्पत्ति के भोग करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। गौतमकुलक में कहा गया है कि पिता के द्वारा उपार्जित लक्ष्मी निश्चय ही पुत्र के लिए बहन होती है और दूसरों की लक्ष्मी परस्त्री के समान होती है। दोनों का ही भोग वर्जित है। अत: स्वयं अपने पुरुषार्थ से धन का उपार्जन करके ही उसका भोग करना न्यायसंगत है।[४] जैनाचार्यों ने विभिन्न वर्ण के लोगों को किन-किन साधनों से धनार्जन करना चाहिए, इसका भी निर्देश किया है। ब्राह्मणों को मुख (विद्या) से, क्षत्रियों को असि (रक्षण) से, वणिकों को वाणिज्य से और कर्मशील व्यक्तियों को शिल्पादि कर्म से धनार्जन करना चाहिए, क्योंकि इन्हीं की साधना में उनकी लक्ष्मी का निवास है।[५] यद्यपि यह सही है कि मोक्ष या निर्वाण की उपलब्धि में जो अर्थ और काम बाधक हैं, वे जैनदृष्टि के अनुसार अनाचरणीय एवं हेय हैं। लेकिन दर्शन यह कभी नहीं कहता कि अर्थ और काम पुरुषार्थ एकान्त रूप से हेय हैं। यदि वे एकान्त रूप से हेय होते तो आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव स्त्रियों की ६४ और पुरुषों की ७२ कलाओं का विधान कैसे करते? क्योंकि उनमें अधिकांश कलाएँ अर्थ और काम पुरुषार्थ से सम्बन्धित हैं।[६] न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और वैवाहिक मर्यादानुकूल काम का जैन विचारणा में समुचित स्थान है। जैन विचारकों ने जिसके त्याग पर बल दिया है वह इन्द्रिय-विषयों का भोग नहीं, भोगों के प्रति आसक्ति या राग-द्वेष की वृत्ति है। जैन मान्यता के अनुसार कर्म-विपाक से उपलब्ध भोगों से बचा नही जा सकता। इन्द्रियों के सम्मुख उनके विषय उपस्थित होने पर उनके आस्वाद से भी बचना सम्भव नही है, जो सम्भव है वह यह कि उनमें राग-द्वेष की वृत्ति न रखी जाये। इतना ही नहीं, जैनाचार्यों ने जीवन के वासनात्मक एवं सौन्दर्यात्मक पक्ष को धर्मोन्मुखी बनाने तथा उनके पारस्परिक विरोध को समाप्त करने का भी प्रयास किया है। उनके अनुसार मोक्षाभिमुख परस्पर अविरोध में रहे हुए सभी पुरुषार्थ आचरणीय हैं। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि गृहस्थ उपासक धर्मपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ का इस प्रकार आचरण करे कि कोई किसी का बाधक न हो।[७]

भद्रआर्य (दूसरी सती) ने तो आचार्य हेमचन्द्र (११वीं शताब्दी) के पूर्व ही यह उद्घोषणा कर दी थी कि जैन परम्परा में तो पुरुषार्थचतुष्टय अविरोध रहते हैं। आचार्य बड़े ही स्पष्ट एव मार्मिक शब्दों में लिखते हैं कि धर्म, अर्थ और काम को भले ही अन्य कोई विचारक परस्पर विरोधी मानते हों, किन्तु जिनवाणी के अनुसार तो वे कुशल अनुष्ठान में अवतरित होने के कारण परस्पर असपत्न (अविरोधी) हैं। अपनी-अपनी भूमिका के योग्य विहित अनुष्ठान रूप धर्म, स्वच्छाशय प्रयुक्त अर्थ और विस्रम्भयुक्त अर्थात् मर्यादानुकूल वैवाहिक नियन्त्रण से स्वीकृत काम, जिनवाणी के अनुसार, परस्पर अविरोधी हैं।[८] ये पुरुषार्थ परस्पर अविरोधी तभी होते हैं जब वे मोक्षाभिमुख होते हैं और जब वे मोक्षाभिमुख होकर परस्पर अविरोध की स्थिति में हों, असपत्न हों, तो वे सम्यक् होते हैं, इसलिए आचरणीय होते हैं। किन्तु जब मोक्ष-मार्ग से विमुख होकर पुरुषार्थ-चतुष्टय परस्पर विरोध में या निरपेक्ष होते हैं, तब वे असम्यक् या अनुचित एवं अनाचरणीय होते हैं।

(ब) बौद्ध दर्शन में पुरुषार्थ चतुष्टय

भगवान् बुद्ध यद्यपि निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा के अनुगामी हैं, तथापि उनके विचारों में अर्थ एवं काम पुरुषार्थ के सम्बन्ध में भी दिशाबोध उपलब्ध है। दीघनिकाय में अर्थ की उपलब्धि के लिए श्रम करते रहने का सन्देश उपलब्ध होता है। बुद्ध कहते हैं- आज बहुत सर्दी है, आज बहुत गर्मी है, अब तो सन्ध्या (देर) हो गयी, इस प्रकार श्रम से दूर भागता हुआ मनुष्य धनहीन हो जाता है। किन्तु जो सर्दी-गर्मी आदि को सहकर कठोर परिश्रम करता है, वह कभी सुख से वंचित नहीं होता[९] जैसे प्रयत्नवान रहने से मधुमक्खी का छत्ता बढ़ता है, चींटी का वल्मीक बढ़ता है, वैसे ही प्रयत्नशील मनुष्य का ऐश्वर्य बढ़ता है।[१०] इतना ही नहीं, प्राप्त सम्पदा का उपयोग किस प्रकार हो, इस सम्बन्ध में भी बुद्ध का निर्देश है कि सद्गृहस्थ प्राप्त धन के एक भाग का उपभोग करे, दो भागों को व्यापार आदि कार्यक्षेत्र में लगाये और चौथे भाग को आपत्ति काल में काम आने के लिए सुरक्षित रख छोड़े।[११] आज का प्रगतिशील अर्थशास्त्री भी आर्थिक प्रगति के लिए इससे अच्छे सूत्र प्रस्तुत नही कर सकता। बुद्ध केवल अर्थशास्त्री के रूप में ही नहीं, वरन् एक सामाजिक अर्थशास्त्री के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे इस बारे में भी पूर्ण सतर्क हैं कि यदि समाज में धन का समुचित वितरण नहीं होगा तो अराजकता और असुरक्षा उत्पन्न होगी। वे कहते हैं, निर्धनों को धन नहीं दिये जाने से दरिद्रता बहुत बढ़ गयी और दरिद्रता के बहुत बढ़ जाने से चोरी बहुत बढ़ गयी।[१२] चोरी के बहुत बढ़ने का अर्थ धन की असुरक्षा है। इसके पीछे बुद्ध का निर्देश यही है कि समाज में धन का समवितरण होना चाहिए ताकि समाज का कोई भी वर्ग अभाव से पीड़ित न हो। बुद्ध की दृष्टि में अर्थ को कभी भी धर्म से विमुख नहीं होना चाहिए, वे धर्मयुक्त व्यवसाय में नियोजित होने का ही निर्देश देते हैं।[१३] जो जीवन में धन का दान एवं भोग के रूप में समुचित उपयोग नहीं करता, उसका धन निरर्थक है, क्योंकि मरनेवाले के पीछे उसका धन आदि नहीं जाता है और न धन से जरामरण से ही छुटकारा मिल सकता है।[१४] कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण मध्यम मार्ग का प्रतिपादन करता है। उदान में बुद्ध कहते हैं, "ब्रह्मचर्य जीवन के साथ व्रतों का पालन करना ही सार है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह एक अन्त है। कामभोगों के सेवन में कोई दोष नहीं, यह दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है, मिथ्याधारणा बढ़ती है, व्यक्ति मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।"[१५] इस आधार पर कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण यही प्रतीत होता है कि जो काम धर्म-अविरुद्ध है, जिससे आध्यात्मिक प्रगति या चित्त की विकलता समाप्त होती है, वह काम आचरणीय है। इसके विपरीत धर्मविरुद्ध मानसिक अशान्तिकारक काम या विषयभोग अनाचरणीय है।

बुद्ध की दृष्टि में भी जैन विचार के समान धर्मपुरुषार्थ निर्वाण या मोक्षपुरुषार्थ का साधन है। मज्झिमनिकाय में बुद्ध कहते हैं, "भिक्षुओं! मैंने बेड़े की भाँति पार जाने के लिए (निर्वाणलाभ के लिए) तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, पकड़ रखने के लिए नहीं।"[१६] अर्थात् निर्वाण की दिशा में ले जानेवाला धर्म ही आचरणीय है। बुद्ध की दृष्टि में जो धर्म निर्वाण की दिशा में नहीं ले जाता, जिससे निर्वाणलाभ में बाधा आती हो वह त्याग देने योग्य है। इतना ही नहीं, बुद्ध धर्म को एक साधन के रूप में स्वीकार करते हैं और साध्य की उपलब्धि के लिए उसे भी छोड़ देने का सन्देश देते हैं। उनकी दृष्टि में परम मूल्य तो निर्वाण ही है।

गीता में पुरुषार्थ चतुष्टय

पुरुषार्थ चतुष्टय के सम्बन्ध में गीता का दृष्टिकोण जैन परम्परा से भिन्न नहीं है। गीता की दृष्टि में भी मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। वही परम मूल्य है। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ सम्बन्धी धृति को गीताकार ने राजसी कहा है।[१७] लेकिन यह मानना भी भ्रान्तिपूर्ण होगा कि गीता में इन पुरुषार्थों का कोई स्थान नही है। गीताकार जब काम की निन्दा करता है,[१८] धर्म को छोड़ने की बात करता है,[१९] तो मोक्षपुरुषार्थ या परमात्मा की प्राप्ति की अपेक्षा से ही। मोक्ष ही परमाराध्य है, धर्म, अर्थ और काम का मोक्ष के निमित्त परित्याग किया जा सकता है। गीताकार की दृष्टि में भी यदि धर्म, अर्थ और काम मोक्ष के अविरोधी हैं तो वे ग्राह्य हैं। गीताकार की मान्यता भी यही प्रतीत होती है कि अर्थ और काम को धर्माधीन होना चाहिए और धर्म को मोक्षाभिमुख होना चाहिए। धर्मयुक्त, यज्ञ (त्याग) पूर्वक एवं वर्णानुसार किया गया आजीविकोपार्जन गीता के अनुसार विहित ही है। यद्यपि धन की चिन्ता में डूबे रहनेवाले और धन का तथा धन के द्वारा किये गये दान-पुण्यादि का अभिमान करनेवाले को गीता में अज्ञानी कहा गया है[२०] तथापि इसका तात्पर्य यही है कि न तो धन को एकमात्र साध्य बना लेना चाहिए और न उसका तथा उसके द्वारा किये गये सत्कार्यों का अभिमान ही करना चाहिए। इसी प्रकार कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में गीता का दृष्टिकोण यही है कि उसे धर्म-अविरुद्ध होना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्राणियों में धर्म-अविरुद्ध काम मैं हूँ।[२१] सभी भोगों से विमुख होने की अपेक्षा गीताकार की दृष्टि में यही उचित है कि उनमें आसक्ति का त्याग किया जाये। वस्तुतः यह दृष्टिकोण भोगों को मोक्ष के अविरोध में रखने का प्रयास है। इसी प्रकार गीता जब यह कहती है कि बिना यज्ञ के जो भोग करता है, वह चोर है, तो उसका प्रमुख दृष्टिकोण कामपुरुषार्थ को धर्माभिमुख बनाने का ही है।[२२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और गीता की विचारधाराओं में चारों पुरुषार्थ स्वीकृत हैं, यद्यपि सभी ने इस बात पर बल दिया है कि अर्थ और काम पुरुषार्थ को धर्म-अविरुद्ध होना चाहिए और धर्म को सदैव ही मोक्षाभिमुख होना चाहिए। वस्तुतः यह दृष्टिकोण न केवल जैन, बौद्ध और गीता की परम्पराओं का है, वरन् समग्र भारतीय चिन्तन की इस सन्दर्भ में यही दृष्टि है। मनु कहते हैं कि धर्म-विहीन अर्थ और काम को छोड़ देना चाहिए।[२३] महाभारत में भी कहा है कि जो अर्थ और काम धर्म विरोधी हों, उन्हें छोड़ देना चाहिए।[२४] कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में और वात्स्यायन अपने कामसूत्र में लिखते हैं कि धर्म से अविरोध में रहे हुए काम का ही सेवन करना चाहए।[२५]

इस प्रकार भारतीय चिन्तकों का प्रयास यही रहा है कि चारों पुरुषार्थों को इस प्रकार संयोजित किया जाये कि वे परस्पर सापेक्ष होकर अविरोध की अवस्था में रहे। इस हेतु उन्होंने उनका पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करने का प्रयास भी किया। कौन सा पुरुषार्थ सर्वोच्च मूल्यवाला है इस सम्बन्ध में महाभारत में गहराई से विचार किया गया है और इसके फलस्वरूप विभिन्न दृष्टिकोण सामने भी आये-

१. अर्थ ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि धर्म और काम दोनों अर्थ के होने पर उपलब्ध होते हैं। धन के अभाव में न तो काम-भोग ही प्राप्त होते हैं, और न दान-पुण्यादि रूप धर्म ही किया जा सकता है।[२६] कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में इसी दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया है।[२७]

२. काम ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि विषयों की इच्छा या काम के अभाव में न तो कोई धन प्राप्त करना चाहता है, और न कोई धर्म करना चाहता है। काम ही अर्थ और धर्म से श्रेष्ठ है।[२८] जैसे दही का सार मक्खन है, वैसे ही अर्थ और धर्म का सार काम हैं।[२९]

३. अर्थ, काम और धर्म तीनों ही स्वतन्त्र पुरुषार्थ हैं, तीनों का समान रूप से सेवन करना चाहिए। जो एक का सेवन करता है वह अधम है, जो दो के सेवन में निपुण है वह मध्यम है और जो इन तीनों में समान रूप से अनुरक्त है, वही मनुष्य उत्तम है।[३०]

४. धर्म ही श्रेष्ठ गुण (पुरुषार्थ) है, अर्थ मध्यम है और काम सबकी अपेक्षा निम्न है। क्योंकि धर्म से ही मोक्ष की उपलब्धि होती है, धर्म पर ही लोक-व्यवस्था आधारित है और धर्म में ही अर्थ समाहित है।[३१]

५. मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। मोक्ष के उपाय के रूप में ज्ञान और अनासक्ति यही परम कल्याणकारक है।[३२]

चारों पुरुषार्थों की तुलना एवं क्रमनिर्धारण

पुरुषार्थ चतुष्टय के सम्बन्ध में उपर्युक्त विभिन्न दृष्टिकोण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, लेकिन सापेक्षिक दृष्टि से इनमें विरोध नहीं रह जाता है। साधन की दृष्टि से विचार करने पर अर्थ ही प्रधान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतीत होता है, क्योंकि अर्थाभाव में दैहिक माँगों (काम) की पूर्ति नहीं होती। दूसरी ओर, लोक के अर्थाभाव से पीड़ित होने पर धर्मव्यवस्था या नीति भी समाप्त हो जाती है। कहा ही गया है-भूखा कौन सा पाप नहीं करता?[३३]

यदि साधक (व्यक्ति) की दृष्टि से विचार करें तो दैहिक मूल्य (काम) ही प्रधान प्रतीत होता है। मनोदैहिक मूल्यों (इच्छा एवं काम) के अभाव में न तो नीति-अनीति का प्रश्न खड़ा होता है और न आर्थिक साधनों की ही कोई आवश्यकता होती है। दूसरे धर्मसाधन और आध्यात्मिक प्रगति भी शरीर से सम्बन्धित है। कहा गया है-धर्मसाधन के लिए शरीर ही प्राथमिक है।[३४] दैहिक माँगों की पूर्ति के अभाव में चित्त-शान्ति भी कैसे होगी और जिनका चित्त अशान्त है वह क्या आध्यात्मिक विकास करेगा?

इसी प्रकार जब हम साधनामार्ग पर सामाजिक सन्दर्भ में विचार करते हैं, तो धर्म ही प्रधान प्रतीत होता है। धर्म ही सामाजिक व्यवस्था का आधार है। धर्म के अभाव में सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है और अस्त-व्यस्त सामाजिक जीवन में अर्थोत्पादन एवं आध्यात्मिक साधना दोनों ही सम्भव नहीं होती। भोगों की समरसता समाप्त हो जाती है।

साध्य या आदेश की दृष्टि से विचार करने पर मोक्ष ही प्रधान प्रतीत होता है, क्योंकि सारे प्रयास जिसके लिए हैं, वह तो आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति ही है। संक्षेप में साधनात्मक दृष्टि से आर्थिक मूल्य (अर्थ,) जैविक दृष्टि से मनोदैहिक मूल्य (काम), सामाजिक दृष्टि से नैतिक मूल्य (धर्म) और साध्यात्मक दृष्टि से आध्यात्मिक मूल्य (मोक्ष) प्रमुख हैं।

लेकिन ये सभी मूल्य या पुरुषार्थ एक-दूसरे से स्वतन्त्र या निरपेक्ष होकर नहीं रह सकते। मोक्ष या आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए धर्म आवश्यक है और धर्मसाधना के लिए शरीर आवश्यक है, शरीर के निर्वाह के लिए शरीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति (काम) आवश्यक है। और उनकी पूर्ति के लिए साधन (अर्थ) जुटाना आवश्यक है। इस प्रकार सभी परस्पर सापेक्ष हैं और सभी आवश्यक भी हैं। जैन ग्रन्थ निशीथभाष्य में कहा गया है कि ज्ञानादि मोक्ष के साधन हैं और ज्ञानादि का साधन देह है और देह का साधन आहार है।[३५] इस प्रकार चारों पुरुषार्थों का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया है, तथापि सभी का मूल्य समान नहीं माना गया है। जैन विचारकों के अनुसार चारों पुरुषार्थों में एक साध्य-साधन भाव है जिसमें अर्थ मात्र साधन है और मोक्ष मात्र साध्य है। काम अर्थ की अपेक्षा से साध्य और धर्म की अपेक्षा से साधन है। धर्म को अर्थ और काम का साध्य और मोक्ष का साधन माना गया है। जब साधन ही साध्य बन जाता है। तो वह दूसरे के विरोध में खड़ा हो जाता है और जीवन के विकास को अवरुद्ध करता है। जैनागम साहित्य में मम्मन सेठ की कथा अर्थ को साध्य मान लेने का सबसे अच्छा उदाहरण है, जिससे प्रकट है कि जब 'धन' साध्य बन जाता है तो वह ऐहिक और पारलौकिक दोनों जीवन में कष्ट ही लाता है। इसी आशय को सामने रखते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि 'धन' में प्रमत्त पुरुष का धन अर्थात् उस व्यक्ति का धन जिसके लिए धन ही साध्य है न तो इस लोक में और न परलोक में ही ऐसे आदमी की रक्षा कर सकता है। धन के असीम मोह से मूढ़ बना हुआ वह व्यक्ति, दीपक के बुझ जाने पर जैसे मार्ग को जानते हुए भी मार्ग नहीं देखता, वैसे ही वह भी न्यायमार्ग या धर्ममार्ग को जानते हुए भी उसे नहीं देख पाता। जैसे एक ही नगर को जाने वाले भिन्न-भिन्न मार्ग परस्पर भिन्न दिशाओं में स्थित होते हुए भी परस्पर विरोधी नहीं कहे जाते, उसी प्रकार परस्पर विरोधी पुरुषार्थ मोक्षाभिमुख होने पर असपत्न (अविरोधी) बन जाते हैं। यहीं उनमें एक मूल्यात्मक तारतम्य स्पष्ट हो जाता है, जिसमें सर्वोच्च स्थान मोक्ष का है, उसके बाद धर्म का स्थान है। धर्म के बाद काम और सबसे अन्त में अर्थ का स्थान आता है। किन्तु अर्थपुरुषार्थ जब लोकोपकार के लिए होता है, तब उसका स्थान कामपुरुषार्थ से ऊपर होता है। पाश्चात्य विचारक अरबन ने मूल्य-निर्धारण के तीन नियम प्रस्तुत किये हैं-(१) साधनात्मक या परतः मूल्यों की अपेक्षा साध्यात्मक या स्वतः मूल्य उच्चतर हैं, (२) अस्थायी या अल्पकालिक मूल्यों की अपेक्षा स्थायी एवं दीर्घकालिक मूल्य उच्चतर हैं और (३) असृजक मूल्यों की अपेक्षा सृजक मूल्य उच्चतर हैं।[३६]

यदि प्रथम नियम के आधार पर विचार करें, तो धन, सम्पत्ति, श्रम, आदि आर्थिक मूल्य जैविक, सामाजिक और धार्मिक (काम और धर्म) मूल्यों की पूर्ति के साधनमात्र हैं, वे स्वतः साध्य नहीं हैं। भारतीय चिन्तन में धन की तीन गतियाँ मानी गयी हैं-(१) दान, (२) भोग और (३) नाश। वह दान के रूप में धर्मपुरुषार्थ का और भोग के रूप में कामपुरुषार्थ का साधन सिद्ध होता है। कामपुरुषार्थ सामान्य रूप में स्वतः साध्य प्रतीत होता है, लेकिन विचारपूर्वक देखने पर वह भी स्वतः साध्य नहीं कहा जा सकता। प्रथमतः जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में जो भोग किये जाते हैं, वे स्वयं साध्य नहीं, वरन् जीवन या शरीर-रक्षण के साधनमात्र हैं। इन सबका साध्य स्वास्थ्य एवं जीवन है। हम जीने के लिए खाते हैं, खाने के लिए नहीं जीते हैं। यदि हम कामपुरुषार्थ को कला, दाम्पत्य, रति या स्नेह के रूप में मानें तो वह भी आनन्द का एक साधन ही ठहरता है। इस प्रकार कामपुरुषार्थ का भी स्वतः मूल्य सिद्ध नहीं होता। उसका जो भी स्थान हो सकता है वह मात्र उसके द्वारा व्यक्ति के आनन्द में की गयी अभिवृद्धि पर निर्भर करता है। यदि अल्पकालिकता या स्थायित्व की दृष्टि से विचार करें तो कामपुरुषार्थ मोक्ष एवं धर्म की अपेक्षा अल्पकालिक ही है। भारतीय विचारकों ने कामपुरुषार्थ को निम्न स्थान उसकी क्षणिकता के आधार पर ही दिया है। तीसरे अपने फल या परिणाम के आधार पर भी काम-पुरुषार्थ निम्न स्थान पर ठहरता है, क्योंकि वह अपने पीछे दुष्पूर-तृष्णा को छोड़ जाता है। उससे उपलब्ध होने वाले आनन्द की तुलना खुजली खुजाने से की गयी है, जिसकी फलनिष्पत्ति क्षणिक सुख के बाद तीव्र वेदना में होती है। धर्मपुरुषार्थ सामाजिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धार्मिक मूल्य के रूप मे स्वत: साध्य है, लेकिन वह भी मोक्ष का साधन माना गया है जो सर्वोच्च मूल्य है। इस प्रकार अरबन के उपर्युक्त मूल्य-निर्धारण के नियमों के आधार पर भी अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों का यही क्रम सिद्ध होता है जो कि जैन और दूसरे भारतीय आचार दर्शनों में स्वीकृत हैं, जिसमें अर्थ सबसे निम्न मूल्य है और मोक्ष सर्वोच्च मूल्य है।

मोक्ष सर्वोच्च मूल्य क्यों?

इस सम्बन्ध में ये तर्क दिये जा सकते हैं-

१. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवमात्र की प्रवृत्ति दु:ख-निवृत्ति की ओर है। क्योंकि मोक्ष दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति है, अत: वह सर्वोच्च मूल्य है। इसी प्रकार आनन्द की उपलब्धि भी प्राणीमात्र का लक्ष्य है, चूंकि मोक्ष परम आनन्द की अवस्था है, अत: वह सर्वोच्च मूल्य है।

२. मूल्यों की व्यवस्था में साध्य-साधक की दृष्टि से एक क्रम होना चाहिए और उस क्रम में कोई सर्वोच्च एवं निरपेक्ष मूल्य होना चाहिए। मोक्ष पूर्ण एवं निरपेक्ष स्थिति है। अत: वह सर्वोच्च मूल्य है। मूल्य वह है जो किसी इच्छा की पूर्ति करे। अत: जिसके प्राप्त हो जाने पर कोई इच्छा ही नहीं रहती है, वही परम मूल्य है। मोक्ष में कोई इच्छा नहीं रहती है, अत: वह परम मूल्य है।

३. सभी साधन किसी साध्य के लिए होते हैं और साध्य की अनुपलब्धि अपूर्णता की सूचक है। मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् कोई साध्य नहीं रहता, इसलिए वह परम मूल्य है। यदि हम किसी अन्य मूल्य को स्वीकार करेंगे तो वह साधन-मूल्य ही होगा और साधन-मूल्य को परम मूल्य मानने पर नैतिकता में सार्वलौकिकता एवं वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जायेगी।

४. मोक्ष अक्षर एवं अमृतपद है, अत: स्थायी मूल्यों में वह सर्वोच्च मूल्य है।

५. मोक्ष आन्तरिक प्रकृति या स्वस्वभाव है। वही एकमात्र परम मूल्य हो सकता है, क्योंकि उसमें हमारी प्रकृति के सभी पक्ष अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति एवं पूर्ण समन्वय की अवस्था में होते हैं।

भारतीय और पाश्चात्य मूल्य सिद्धान्तों की तुलना

अरबन और एबरेट ने जीवन के विभिन्न मूल्यों की उच्चता एवं निम्नता का जो क्रम निर्धारित किया है, वह भी भारतीय चिन्तन से काफी साम्य रखता है। अरबन ने मूल्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है-

अरबन ने सबसे पहले मूल्यों को दो भागों में बाँटा है-(१) जैविक और (२) अति जैविक। अति जैविक मूल्य भी सामाजिक और आध्यात्मिक ऐसे दो प्रकार के हैं। इस प्रकार मूल्यों के तीन वर्ग बन जाते हैं-

१. जैविक मूल्य-शारीरिक, आर्थिक और मनोरंजन के मूल्य जैविक मूल्य हैं। आर्थिक मूल्य मौलिक-रूप से साधन-मूल्य हैं, साध्य नहीं। आर्थिक शुभ स्वत: मूल्यवान् नहीं है, उनका मूल्य केवल शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को अर्जित करने के साधन होने में है। सम्पत्ति स्वत: वाञ्छनीय नहीं है, बल्कि अन्य शुभों का साधन होने के कारण वाञ्छनीय है। सम्पत्ति एक साधन-मूल्य है, साध्य-मूल्य नहीं। शारीरिक मूल्य भी वैयक्तिक मूल्यों के साधक हैं। स्वास्थ्य और शक्ति से युक्त परिपुष्ट शरीर को व्यक्ति अच्छे जीवन के अन्य मूल्यों के अनुसरण में प्रयुक्त कर सकता है। क्रीड़ा स्वयं मूल्य है, किन्तु वह भी मुख्यतया साधक-मूल्य है। उसका साध्य है शारीरिक स्वास्थ्य। मनोरंजन चित्तविक्षोभ को समाप्त करने का साधन है। क्रीड़ा और मनोरंजन उच्चतर मूल्यों के अनुसरण के लिए हमें शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रखते हैं।

२. सामाजिक मूल्य-सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत साहचर्य तथा चरित्र के मूल्य आते हैं। आज के मानवतावादी युग में तो इन मूल्यों का महत्त्व अत्यन्त व्यापक हो गया है। यद्यपि ये दोनों मूल्य किसी अन्य साध्य के साधन-स्वरूप प्रयुक्त होते हैं, परन्तु कुछ महान् पुरुषों ने सच्चरित्रता एवं समाजसेवा को जीवन के परम लक्ष्य के रूप में ग्रहण किया है। मनुष्य समाज का अंग है। एक असीम आत्मा का साक्षात्कार समाज के साथ अपनी वैयक्तिकता का एकाकार करके ही किया जा सकता है।

३. आध्यात्मिक मूल्य-मूल्यों के इस वर्ग के अन्तर्गत बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक एवं धार्मिक-तीन प्रकार के मूल्य आते हैं। ये तीनों मूल्य मूलत: साध्य मूल्य हैं। ये आत्मा की सर्वश्रेष्ठ या परम आदर्श प्रकृति अर्थात् सत्यं, शिवं और सुन्दरं की अभिरुचियों को तृप्ति प्रदान करते हैं तथा जैविक एवं सामाजिक मूल्यों से श्रेष्ठ कोटि के हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय दर्शनों के पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ और काम जैविक मूल्य हैं तथा धर्म और मोक्ष अतिजैविक मूल्य हैं। अरबन ने जैविक मूल्यों में आर्थिक, शारीरिक और मनोरंजनात्मक मूल्य माने हैं। इनमें आर्थिक मूल्य अर्थ-पुरुषार्थ तथा शारीरिक और मनोरंजनात्मक मूल्य कामपुरुषार्थ के समान हैं। अरबन के द्वारा अतिजैविक मूल्यों में सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य माने गये हैं। उनमें सामाजिक मूल्य धर्मपुरुषार्थ से और आध्यात्मिक मूल्य मोक्षपुरुषार्थ से सम्बन्धित हैं। जिस प्रकार अरबन ने मूल्यों में सबसे नीचे आर्थिक मूल्य माने हैं, उसी प्रकार भारतीय दर्शन में भी अर्थपुरुषार्थ को तारतम्य की दृष्टि से सबसे नीचे माना है। जिस प्रकार अरबन के दर्शन में शारीरिक और मनोरंजन सम्बन्धी मूल्यों का स्थान आर्थिक मूल्यों से ऊपर, लेकिन सामाजिक मूल्यों से नीचे है उसी प्रकार भारतीय दर्शनों में भी कामपुरुषार्थ अर्थपुरुषार्थ से ऊपर लेकिन धर्मपुरुषार्थ से नीचे है। जिस प्रकार अरबन ने आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोच्च माना है, उसी प्रकार भारतीय दर्शन में भी मोक्ष को सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है। अरबन के दृष्टिकोण की भारतीय चिन्तन से कितनी अधिक निकटता है, इसे निम्न तालिका से समझा जा सकता है-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य दृष्टिकोण मूल्य	भारतीय दृष्टिकोण पुरुषार्थ	जैन दृष्टिकोण
जैविक मूल्य		
१. आर्थिक मूल्य	अर्थ पुरुषार्थ	अर्थ
२. शारीरिक मूल्य	कामपुरुषार्थ	काम
३. मनोरंजनात्मक मूल्य	,, ,,	,,
सामाजिक मूल्य		
४. संगठनात्मक मूल्य	धर्मपुरुषार्थ	व्यवहारधर्म
५. चारित्रिक मूल्य	निश्चयधर्म	,,
आध्यात्मिक मूल्य		
६. कलात्मक	आनन्द (संकल्प)	अनन्त सुख एवं शक्ति
७. बौद्धिक	चित् (ज्ञान)	अनन्तज्ञान
८. धार्मिक	सत् (भाव)	अनन्तदर्शन

इस प्रकार अपनी मूल्य-विवेचना में प्राच्य और पाश्चात्य विचारक अन्त में एक ही निष्कर्ष पर आ जाते हैं और वह निष्कर्ष यह है कि आध्यात्मिक मूल्य या आत्मपूर्णता ही सर्वोच्च मूल्य है एवं वही नैतिक जीवन का साध्य है।

यद्यपि भारतीय दर्शन में सापेक्ष दृष्टि से मूल्य सम्बन्धी सभी विचार स्वीकार कर लिये गये हैं, फिर भी उसकी दृष्टि में आत्मपूर्णता, वीतरागावस्था या समभाव की उपलब्धि ही उसका एकमात्र परम मूल्य है, किन्तु उसके परममूल्य होने का अर्थ एक सापेक्षिक क्रम व्यवस्था में सर्वोच्च होना है। किसी मूल्य की सर्वोच्चता भी अन्यमूल्य सापेक्ष ही होती है, निरपेक्ष नहीं। अतः मूल्य, मूल्य-विश्व और मूल्यबोध सभी सापेक्ष है।

संदर्भ

१. Contemporary Ethical Theories, Chapter-17 pp.774-284.
२. मरणसमाधि, ६०३.
३. उत्तराध्ययन, १३/१६.
४. प्राकृत सूक्तिसरोज, ११/११.
५. प्राकृत सूक्तिसरोज, ११/७.
६. देखिए-कल्पसूत्र, सं० देवेन्द्रमुनि; तारकगुरु ग्रन्थमाला उदयपुर १९७५.
७. योगशास्त्र, १/५२.
८. दशवैकालिकनिर्युक्ति, २६२-२६४.
९. दीघनिकाय, ३/८/२.
१०. वही, ३/८/४.
११. वही, ३/८/४.
१२. वही, ३/३/४.
१३. सुत्तनिपात, २६/२९.
१४. मज्झिमनिकाय, २/३२/४.
१५. उदान, जात्यन्धवर्ग, ८.
१६. मज्झिमनिकाय, १/२२/४.
१७. गीता, १८/३४.
१८. वही, १७/२१.
१९. वही, १८/६६.
२०. वही, १६/१०, १२, १५.
२१. वही, ७/११.
२२. वही, ३/१३.
२३. मनुस्मृति, ४/१७६.
२४. महाभारत, अनुशासनपर्व, ३/१८-१९.
२५. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १/१७.
२६. महाभारत, शान्तिपर्व, १६७/१२-१३.
२७. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १/७.
२८. महाभारत, शान्तिपर्व, १६७/२९.
२९. वही, १६७/३५.
३०. वही, १६७/४०.
३१. वही, १६७/८.
३२. वही, १६७/४६.
३३. बुभुक्षितः किं न करोति पापम्?
३४. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।
३५. निशीथभाष्य, ४१५९.
३६. फण्डामेण्टल आफ एथिक्स, पृ० १७०-१७१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org